जैनदर्शन में सत् का स्वरूप

जैन आगम साहित्य की व्याख्या एवं उनमें वर्णित विषय-वस्तु को मुख्य रूप से जिन चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है, वे अनुयोग कहे जाते हैं। अनुयोग चार हैं- (१) द्रव्यानुयोग, (२) गणितानुयोग, (३) चरणकरणानुयोग और (४) धर्मकथानुयोग। इन चार अनुयोगों में से जिस अनुयोग के अन्तर्गत विश्व के मूलभूत घटकों के स्वरूप के सम्बध में विवेचन किया जाता है,उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी विवरण गणितानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। धर्म और सदाचरण संबंधी विधि-निषेधों का विवेचन चरणकरणानुयोग अंतर्गत होता है और धर्म एवं नैतिकता में आस्था को दृढ़ करने हेतु सदाचारी, सत्पुरुषों के जो आख्यानक (कथानक) प्रस्तुत किये जाते हैं, वे धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन चार अनुयोगों में भी द्रव्यानुयोग का सम्बन्ध तात्त्विक या दार्शनिक चिन्तन से है। जहाँ तक हमारे दार्शनिक चिन्तन का प्रश्न है आज हम उसे तीन भागों में विभाजित करते हैं- १. तत्त्व-मीमांसा, २. ज्ञान-मीमांसा और ३. आचार-मीमांसा। इन तीनों में से तत्त्व-मीमांसा एवं ज्ञान-मीमांसा दोनों ही द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आते हैं। इनमें भी जहाँ तक तत्त्व-मीमांसा का सम्बन्ध है, उसके प्रमुख कार्य जगत् के मूलभूत घटकों, उपादानों या पदार्थों और उनके कार्यों की विवेचना करना है। तत्त्व-मीमांसा का आरम्भ तभी हुआ होगा जब मानव में जगत् के स्वरूप और उसके मूलभूत उपादान घटकों को जानने की जिज्ञासा प्रस्फुटित हुई होगी तथा उसने अपने और अपने परिवेश के संदर्भ में चिन्तन किया होगा। इसी चिन्तन के द्वारा तत्त्व-मीमांसा का प्रादुर्भाव हुआ होगा। "मैं कौन हूँ", "कहाँ से आया हूँ" "यह जगत् क्या है", जिससे यह निर्मित हुआ है, वे मूलभूत उपादान,घटक क्या हैं", "यह किन नियमों से नियंत्रित एवं संचालित होता है" इन्हीं प्रश्नों के समाधान हेतु ही विभिन्न दर्शनों का और उनके तत्त्व-विषयक गवेषणाओं का जन्म हुआ। जैन परम्परा में भी उसके प्रथम एवं प्राचीनतम आगम ग्रंथ आचारांग का प्रारम्भ भी इसी चिन्तना से होता है कि "मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, इस शरीर का परित्याग करने पर कहाँ जाऊँगा।"[१] वस्तुत: ये ही ऐसे प्रश्न हैं जिनसे दार्शनिक चिन्तन का विकास होता है और तत्त्व-मीमांसा का आविर्भाव होता है।

तत्त्व-मीमांसा वस्तुत: विश्व-व्याख्या का एक प्रयास है। इसमें जगत् के मूलभूत उपादानों तथा उनके कार्यों का विवेचन विभिन्न दृष्टिकोणों से किया जाता है। विश्व के मूलभूत घटक जो अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य घटक पर आश्रित नहीं है तथा जो कभी भी अपने स्व-स्वरूप का परित्याग नहीं करते हैं वे सत् या द्रव्य कहलाते हैं। विश्व के तात्त्विक आधार या मूलभूत उपादान ही सत् या द्रव्य कहे जाते हैं और जो इन द्रव्यों का विवेचन करता है वही द्रव्यानुयोग है।

विश्व के सन्दर्भ में जैनों का दृष्टिकोण यह है कि यह विश्व अकृत्रिम है ('लोगो अकिट्टिमो खलु' मूलाचार, गाथा ७/२)। इस लोक का कोई निर्माता या सृष्टिकर्ता नहीं है। अर्ध-मागधी आगम साहित्य में भी लोक को शाश्वत बताया गया है। उसमें कहा गया है कि यह लोक अनादिकाल से है और रहेगा। ऋषिभाषित के अनुसार लोक की शाश्वतता के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भगवान् पार्श्वनाथ ने किया था। आगे चलकर भगवतीसूत्र में महावीर ने भी इसी सिद्धान्त का अनुमोदन किया।[२] जैन दर्शन लोक को जो अकृत्रिम और शाश्वत मानता है उसका तात्पर्य यह है कि लोक का कोई रचयिता एवं नियामक नहीं है, वह स्वाभाविक है और अनादिकाल से चला आ रहा है, किन्तु जैनागमों में लोक के शाश्वत कहने का तात्पर्य कथमपि यह नहीं है कि उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है। विश्व के सन्दर्भ में जैन चिन्तक जिस नित्यता को स्वीकार करते हैं, वह नित्यता कूटस्थ नित्यता नहीं, परिणामी नित्यता है, अर्थात् वे विश्व को परिवर्तनशील मानकर भी मात्र प्रवाह या प्रक्रिया की अपेक्षा से नित्य या शाश्वत कहते हैं।

भगवतीसूत्र में लोक के स्वरूप की चर्चा करते हुए लोक को पंचास्तिकाय रूप कहा गया है।[३] जैन दर्शन में इस विश्व के मूलभूत उपादान पाँच अस्तिकाय द्रव्य हैं-१. जीव (चेतन तत्त्व), २. पुद्गल (भौतिक तत्त्व), ३. धर्म (गति का नियामक तत्त्व), ४. अधर्म (स्थिति नियामक तत्त्व) और ५. आकाश (स्थान या अवकाश देने वाला तत्त्व)।

ज्ञातव्य है कि यहाँ काल को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना गया है। यद्यपि परवर्ती जैन विचारकों ने काल को भी विश्व के परिवर्तन के मौलिक कारण के रूप में या विश्व में होने वाले परिवर्तनों के नियामक तत्त्व के रूप में स्वतन्त्र द्रव्य माना है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे पंचास्तिकायों और षट्द्रव्यों के प्रसंग में की जायेगी। यहाँ हमारा प्रतिपाद्य तो यह है कि जैन दार्शनिक विश्व के मूलभूत उपादानों के रूप में पंचास्तिकायों एवं षट्द्रव्यों की चर्चा करते हैं। विश्व के इन मूलभूत उपादानों को द्रव्य अथवा सत् के रूप में विवेचित किया जाता है। द्रव्य अथवा सत् वह है जो अपने आप में परिपूर्ण, स्वतन्त्र और विश्व का मौलिक घटक है। जैन परम्परा में सामान्यतया सत्, तत्त्व, परमार्थ, द्रव्य, स्वभाव, पर-अपर ध्येय, शुद्ध और परम इन सभी को एकार्थक या पर्यायवाची माना गया है। बृहद्नयचक्र में कहा गया है-

ततं तह परमट्ठं दव्वसहायं तहेव परमपरं।
ध्येयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।।

-बृहद्नयचक्र, ४११

जैनागमों में विश्व के मूलभूत घटक के लिए अस्तिकाय, तत्त्व और द्रव्य शब्दों का प्रयोग मिलता हैं। उत्तराध्ययनसूत्र में हमें तत्त्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और द्रव्य के, स्थानांग में अस्तिकाय और पदार्थ के, ऋषिभाषित, समवायांग और भगवती में अस्तिकाय के उल्लेख मिलते हैं। कुंदकुंद ने अर्थ, पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और अस्तिकाय-इन सभी शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि जैन आगमयुग में तो विश्व के मूलभूत घटकों के लिए अस्तिकाय, तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्दों का प्रयोग होता था। 'सत्' शब्द का प्रयोग आगम युग में नहीं हुआ। उमास्वाति ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने आगमिक द्रव्य, तत्त्व और अस्तिकाय शब्दों के साथ-साथ द्रव्य के लक्षण के रूप में 'सत्' शब्द का प्रयोग किया है। वैसे अस्तिकाय शब्द प्राचीन और जैन दर्शन का अपना विशिष्ट परिभाषिक शब्द है। यह अपने अर्थ की दृष्टि से सत् के निकट है, क्योंकि दोनों ही अस्तित्व लक्षण के ही सूचक हैं। तत्त्व, द्रव्य और पदार्थ शब्द के प्रयोग सांख्य और न्याय-वैशेषिक दर्शनों में भी मिलते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र (५/२९) में उमास्वाति ने भी द्रव्य और सत् दोनों को अभिन्न बताया है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सत, परमार्थ, परम तत्त्व और द्रव्य सामान्य दृष्टि से पर्यायवाची होते हुए भी विशेष दृष्टि एवं अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं। वेद, उपनिषद् और उनसे विकसित वेदान्त दर्शन की विभिन्न दार्शनिक धाराओं में सत् शब्द प्रमुख रहा है। ऋग्वेद में स्पष्ट उल्लेख है कि "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् सत् (परम तत्त्व) एक ही है-विप्र (विद्वान) उसे अनेक रूप से कहते हैं। किन्तु दूसरी ओर स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित दर्शन परम्पराओं-विशेष रूप से वैशेषिक दर्शन में द्रव्य शब्द प्रमुख रहा है। ज्ञातव्य है कि व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द अस्तित्व का अथवा प्रकारान्तर से नित्यता या अपरिवर्तनशीलता का एवं द्रव्य शब्द परिवर्तनशीलता का सूचक है। सांख्यों एवं नैयायिकों ने इसके लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायसूत्र के भाष्यकार ने प्रमाण आदि १६ तत्त्वों के लिए सत् शब्द का प्रयोग भी किया है फिर भी इतना स्पष्ट है कि न्याय और वैशेषिक दर्शन में क्रमशः तत्त्व और द्रव्य शब्द ही अधिक प्रचलित रहे हैं। सांख्य दर्शन भी प्रकृति और पुरुष इन दोनों को तथा इनसे उत्पन्न बुद्धि, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं और पंच महाभूतों को तत्त्व ही कहता है। इस प्रकार स्वतन्त्र चिन्तन के आधार पर विकसित इन दर्शन परम्पराओं में तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य का प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है। सामान्यतया तो तत्त्व, पदार्थ, अर्थ और द्रव्य शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त होते हैं किन्तु इनमें अपने तात्पर्य को लेकर भिन्नता भी मानी गयी हैं। तत्त्व शब्द सबसे अधिक व्यापक है उसमें पदार्थ और द्रव्य भी समाहित है। न्याय दर्शन में जिन तत्त्वों को माना गया है उनमें द्रव्य का उल्लेख प्रमेय के अन्तर्गत हुआ है। वैशेषिकसूत्र में द्रव्यगुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये षट् पदार्थ और प्रकारान्तर से अभाव को मिलाकर सात पदार्थ कहे जाते हैं। इनमें भी द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन की ही अर्थ संज्ञा है। अतः सिद्ध होता है कि अर्थ की व्यापकता की दृष्टि से तत्त्व की अपेक्षा पदार्थ और पदार्थ की अपेक्षा द्रव्य अधिक संकुचित है। तत्त्वों में पदार्थ का और पदार्थों में द्रव्य का समावेश होता है। सत् शब्द को इससे भी अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। वस्तुतः जो भी अस्तित्ववान् है, वह सत् के अन्तर्गत आ जाता है। अतः सत् शब्द, तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्दों की अपेक्षा भी अधिक व्यापक अर्थ का सूचक है।

उपर्युक्त विवेचन से एक निष्कर्ष यह भी निकाला जा सकता है कि जो दर्शनधारायें अभेदवाद की ओर अग्रसर हुईं उनमें 'सत्' शब्द की प्रमुखता रही जबकि जो धारायें भेदवाद की ओर अग्रसर हुईं उनमें 'द्रव्य' शब्द की प्रमुखता रही।

जहाँ तक जैन दर्शनिकों का प्रश्न है उन्होंने सत् और द्रव्य में एक अभिन्नता सूचित की है। तत्त्वार्थभाष्य में उमास्वाति ने 'सत् द्रव्य लक्षणं' कहकर दोनों में अभेद स्थापित किया है फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ 'सत्' शब्द एक सामान्य सत्ता का सूचक है वहाँ 'द्रव्य' शब्द विशेष सत्ता का सूचक है। जैन आगमों के टीकाकार अभयदेवसूरि ने और उनके पूर्व तत्त्वार्थभाष्य (१/३५) में उमास्वाति ने 'सर्वं एकं सद् विशेषात्' कहकर सत् शब्द से सभी द्रव्यों के सामान्य लक्षण अस्तित्व को सूचित किया है। अतः यह स्पष्ट है कि सत् शब्द अभेद या सामान्य का सूचक है और द्रव्य शब्द विशेष का। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन दार्शनिकों की दृष्टि में सत् और द्रव्य शब्द में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्ता की अपेक्षा वे अभिन्न हैं; उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि सत् अर्थात् अस्तित्व के बिना द्रव्य भी नहीं हो सकता। दूसरी ओर द्रव्य (सत्ता-विशेष) के बिना सत् की कोई सत्ता ही नहीं होगी। अस्तित्व (सत्) के बिना द्रव्य और द्रव्य के बिना अस्तित्व नहीं हो सकते। अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से तो सत् और द्रव्य दोनों अभिन्न हैं। यही कारण है कि उमास्वाति ने सत् को द्रव्य का लक्षण कहा था। स्पष्ट है कि लक्षण और लक्षित भिन्न-भिन्न नहीं होते हैं।

वस्तुतः सत् और द्रव्य दोनों में उनके व्युत्पत्तिपरक अर्थ की अपेक्षा से ही भेद है, अस्तित्व या सत्ता की अपेक्षा से भेद नहीं है। हम उनमें केवल विचार की अपेक्षा से भेद कर सकते हैं, सत्ता की अपेक्षा से नहीं। सत् और द्रव्य अन्योन्याश्रित है, फिर भी वैचारिक स्तर पर हमें यह मानना होगा कि सत् ही एक ऐसा लक्षण है जो विभिन्न द्रव्यों में अभेद की स्थापना करता है, किन्तु हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि सत् द्रव्य का एकमात्र लक्षण नहीं है। द्रव्य में अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य लक्षण भी हैं, जो एक द्रव्य को दूसरे से पृथक् करते हैं। अस्तित्व लक्षण की अपेक्षा से सभी द्रव्य एक हैं किन्तु अन्य लक्षणों की अपेक्षा से वे एक-दूसरे से पृथक् भी हैं। जैसे चेतना लक्षण जीव और अजीव में भेद करता है। सत्ता में सत् लक्षण की अपेक्षा से अभेद और अन्य लक्षणों से भेद मानना यही जैन दर्शन की अनेकान्तिक दृष्टि की विशेषता है।

अर्ध-मागधी आगम स्थानांग और समवायांग में जहाँ अभेद-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टि के आधार पर जीव द्रव्य को एक कहा गया है,[४] वहीं उत्तराध्ययन में भेद-दृष्टि से जीव द्रव्य में भेद किये गये हैं।[५]

जहाँ तक जैन दार्शनिकों का प्रश्न है, वे सत् और द्रव्य दोनों ही शब्दों को न केवल स्वीकार करते हैं, अपितु उनको एक-दूसरे से समन्वित भी करते हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम सत् के स्वरूप का विश्लेषण करेंगे, उसके बाद द्रव्यों की चर्चा करेंगे तथा अन्त में तत्त्वों के स्वरूप पर विचार करेंगे।

सत् का स्वरूप

जैसा कि हमने पूर्व में सूचित किया है जैन दार्शनिकों ने सत्, तत्त्व और द्रव्य इन तीनों को पर्यायवाची माना है किन्तु इनके शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से इन तीनों में अन्तर है। सत् वह सामान्य लक्षण है जो सभी द्रव्यों और तत्त्वों में पाया जाता है एवं द्रव्यों के भेद में भी अभेद को प्रधानता देता है। जहाँ तक तत्त्व का प्रश्न है, वह भेद और अभेद दोनों को अथवा सामान्य और विशेष दोनों को स्वीकार करता है। सत् में कोई भेद नहीं किया जाता, जबकि तत्त्व में भेद किया जाता है। जैन आचार्यों ने तत्त्वों की चर्चा के प्रसंग पर न केवल जड़ और चेतन द्रव्यों अर्थात् जीव और अजीव की चर्चा की है, अपितु आस्रव, संवर आदि उनके पारस्परिक सम्बन्धों की भी चर्चा की है। तत्त्व की दृष्टि से न केवल जीव और अजीव में भेद माना गया अपितु जीवों में भी परस्पर भेद माना गया, वहीं दूसरी ओर आस्रव, बन्ध आदि के प्रसंग में उनके तादात्म्य या अभेद को भी स्वीकार किया गया, किन्तु जहाँ तक 'द्रव्य' शब्द का प्रश्न है वह सामान्य होते हुए भी द्रव्यों की लक्षणगत् विशेषताओं के आधार पर उनमें भेद करता है। 'सत्' शब्द सामान्यात्मक है, तत्त्व शब्द सामान्य-विशेष उभयात्मक है और द्रव्य विशेषात्मक है। पुनः सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील पक्ष का, द्रव्य शब्द परिवर्तनशील पक्ष का और तत्त्व शब्द उभय-पक्ष का सूचक है। जैनों की नयों की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो सत् शब्द संग्रहनय का, तत्त्व नैगमनय का और द्रव्य शब्द व्यवहारनय का सूचक है। सत् अभेदात्मक है, तत्त्व भेदाभेदात्मक है और द्रव्य शब्द भेदात्मक है। चूँकि जैन दर्शन भेद, भेदाभेद और अभेद तीनों को स्वीकार करता है, अतः उसने अपने चिन्तन में इन तीनों को स्थान दिया है। इन तीनों शब्दों में हम सर्व प्रथम सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार करेंगे। यद्यपि अपने व्युत्पत्तिपरक अर्थ की दृष्टि से सत् शब्द सत्ता के अपरिवर्तनशील, सामान्य एवं अभेदात्मक पक्ष का सूचक है। फिर भी सत् के स्वरूप को लेकर भारतीय दार्शनिकों में मतैक्य नहीं है। कोई उसे अपरिवर्तनशील मानता है तो कोई उसे परिवर्तनशील, कोई उसे एक कहता है तो कोई अनेक, कोई उसे चेतन मानता है तो कोई उसे जड़। वस्तुतः सत्, परम तत्त्व या परमार्थ के स्वरूप सम्बन्धी इन विभिन्न दृष्टिकोणों के मूल में प्रमुख रूप से तीन प्रश्न रहे हैं। प्रथम प्रश्न उसके एकत्व अथवा अनेकत्व का है। दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध उसके परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील का होने से है। तीसरे प्रश्न का विवेच्य उसके चित् या अचित् होने से है। ज्ञातव्य है कि अधिकांश भारतीय दर्शनों ने चित-अचित, जड़-चेतन या जीव-अजीव दोनों तत्त्वों को स्वीकार किया है अतः यह प्रश्न अधिक चर्चित नहीं बना फिर भी इन सब प्रश्नों के दिये गये उत्तरों के परिणामस्वरूप भारतीय चिन्तन में सत् के स्वरूप में विविधता आ गयी।

सत् के परिवर्तनशील या अपरिवर्तनशील पक्ष की समीक्षा

सत् के परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनशील स्वरूप के सम्बन्ध में दो अतिवादी अवधारणाएँ हैं। एक धारणा यह है कि सत् निर्विकार एवं अव्यय है। त्रिकाल में उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इन विचारकों का कहना है कि जो परिवर्तित होता है, वह सत् नहीं हो सकता। परिर्वतन का अर्थ ही है कि पूर्व अवस्था की समाप्ति और नवीन अवस्था का ग्रहण। इन दार्शनिकों का कहना है कि जिसमें उत्पाद एवं व्यय की प्रक्रिया हो उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जो अवस्थान्तर को प्राप्त हो उसे सत् कैसे कहा जाय? इस सिद्धान्त के विरोध में जो सिद्धान्त अस्तित्व में आया वह सत् की परिवर्तनशीलता का सिद्धान्त है। इन विचारकों के अनुसार परिवर्तनशीलता या अर्थक्रियाकारित्व की सामर्थ्य ही सत् का लक्षण है। जो गतिशील नहीं है दूसरे शब्दों में जो अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति से हीन है उसे सत् नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक भारतीय दार्शनिक चिंतन का प्रश्न है कुछ औपनिषदिक चिन्तक और शंकर का अद्वैत वेदान्त सत् के अपरिवर्तनशील होने के प्रथम सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार सत् निर्विकार और अव्यय है। वह उत्पाद और व्यय दोनों से रहित हैं। इसके विपरीत दूसरा सिद्धान्त बौद्ध-दार्शनिकों का है। वे सभी एकमत से स्वीकार करते हैं कि सत् का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व है। उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया से पृथक् कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती। जहाँ तक भारतीय चिन्तकों में सांख्य दर्शनिकों का प्रश्न है वे चित् तत्त्व या पुरुष को अपरिवर्तनशील या कूटस्थनित्य मानते हैं किन्तु उनकी दृष्टि में प्रकृति कूटस्थनित्य नहीं है वह परिवर्तनशील तत्त्व है। इस प्रकार सांख्य दार्शनिक अपने द्वारा स्वीकृत दो तत्त्वों में एक को परिवर्तनशील और दूसरे को अपरिवर्तनशील मानते हैं।

वस्तुतः सत् को निर्विकार और अव्यय मानने में सबसे बड़ी बाधा यह है कि उसके अनुसार जगत् को मिथ्या या असत् ही मानना होता है, क्योंकि हमारी अनुभूति का जगत् तो परिवर्तनशील है इसमें कुछ भी ऐसा प्रतीत नहीं होता जो परिवर्तन से रहित हो। न केवल व्यक्ति और समाज अपितु भौतिक पदार्थ भी प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। सत् को निर्विकार और अव्यय मानने का अर्थ है जगत् की अनुभूतिगत विविधता को नकारना और कोई भी विचारक अनुभवात्मक परिवर्तनशीलता को नकार नहीं सकता। चाहे आचार्य शंकर कितने ही जोर से इस बात को रखें कि निर्विकार ब्रह्म ही सत्य है और परिवर्तनशील जगत् मिथ्या है किन्तु आनुभविक स्तर पर कोई भी विचारक इसे स्वीकार नहीं कर सकेगा। अनुभूति के स्तर पर जो परिवर्तनशील की अनुभूति है उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कभी भी नकारा नहीं जा सकता। यदि सत् त्रिकाल में अविकारी और अपरिवर्तनशील हो तो फिर वैयक्तिक जीवों या आत्माओं के बंधन और मुक्ति की व्याख्या भी अर्थहीन हो जायेगी। धर्म और नैतिकता दोनों का ही उन दर्शनों में कोई स्थान नहीं है, जो सत् की अपरिणामी मानते हैं। जैसे जीवन में बाल्यावस्था, युवावस्था और प्रौढ़ावस्था आती है, उसी प्रकार सत्ता में भी परिवर्तन घटित होते हैं। आज का हमारे अनुभव का विश्व वही नहीं है, जो हजार वर्ष पूर्व था, उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन घटित होते हैं। न केवल जगत् में अपितु हमारे वैयक्तिक जीवन में भी परिवर्तन घटित होते रहते हैं अत: अस्तित्व या सत्ता के सम्बन्ध में अपरिवर्तनशीलता की अवधारणा समीचीन नहीं है।

इसके विपरीत यदि सत् को क्षणिक या परिवर्तनशील माना जाता है तो भी कर्मफल या नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या संभव नहीं होती। यदि प्रत्येक क्षण स्वतन्त्र है तो फिर हम नैतिक उत्तरदायित्व की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि व्यक्ति अथवा वस्तु अपने पूर्व क्षण की अपेक्षा उत्तर क्षण में पूर्णत: बदल जाती है तो फिर हम किसी को पूर्व में किए गये चोरी आदि कार्यों के लिए कैसे उत्तरदायी बना पायेंगे?

सैद्धान्तिक दृष्टि से जैन दार्शनिकों का इस धारणा के विपरीत यह कहना है कि उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है दूसरे शब्दों में पूर्व-पर्याय के नाश के बिना उत्तर-पर्याय की उत्पत्ति संभव नहीं है किन्तु उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई वस्तुतत्त्व होना चाहिये। एकान्तनित्य वस्तुतत्त्व/पदार्थ में परिवर्तन संभव नहीं है और यदि पदार्थों को एकान्त क्षणिक माना जाय तो परिवर्तित कौन होता है, यह नहीं बताया जा सकता। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में इस दृष्टिकोण की समालोचना करते हुए कहते हैं कि "एकान्त क्षणिकवाद में प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म असंभव होगा और प्रेत्यभाव के अभाव में पुण्य-पाप के प्रतिफल और बंधन-मुक्ति की अवधारणायें भी संभव नहीं होगी। पुन: एकान्त क्षणिकवाद में प्रत्यभिज्ञा भी संभव नहीं और प्रत्यभिज्ञा के अभाव में कार्यारम्भ ही नहीं होगा फिर फल कहाँ से?[६] इस प्रकार इसमें बंधन-मुक्ति, पुनर्जन्म का कोई स्थान नहीं है। "युक्त्यानुशान" में कहा गया है कि क्षणिकवाद संवृत्ति सत्य के रूप में भी बन्धन-मुक्ति आदि की स्थापना नहीं कर सकता क्योंकि उसकी दृष्टि में परमार्थ या सत् नि:स्वभाव है। यदि परमार्थ नि:स्वभाव है तो फिर व्यवहार का विधान कैसे होगा?[७] आचार्य हेमचन्द्र ने 'अन्ययोगव्यवच्छेदिका' में क्षणिकवाद पर पाँच आक्षेप लगाये हैं- १. कृत-प्रणाश, २. अकृत-भोग, ३. भव-भंग, ४. प्रमोक्ष-भंग और ५. स्मृति-भंग।[८] यदि कोई नित्य सत्ता ही नहीं है और प्रत्येक सत्ता क्षणजीवी है तो फिर व्यक्ति द्वारा किये गये कर्मों का फलभोग कैसे सम्भव होगा, क्योंकि फलभोग के लिए कर्तृत्वकाल और भोक्तृत्व काल में उसी व्यक्ति का होना आवश्यक है अन्यथा कार्य कौन करेगा और फल कौन भोगेगा? वस्तुत: एकान्त क्षणिकवाद में अध्ययन कोई और करेगा, परीक्षा कोई और देगा, उसका प्रमाण-पत्र किसी और को मिलेगा, उस प्रमाण-पत्र के आधार पर नौकरी कोई अन्य व्यक्ति प्राप्त करेगा और जो वेतन मिलेगा वह किसी अन्य को। इसी प्रकार ऋण कोई अन्य व्यक्ति लेगा और उसका भुगतान किसी अन्य व्यक्ति को करना होगा।

यह सत्य है कि बौद्ध दर्शन में सत् के अनित्य एवं क्षणिक स्वरूप पर अधिक बल दिया गया है। यह भी सत्य है कि भगवान् बुद्ध सत् को एक प्रक्रिया (Process) के रूप में देखते हैं। उनकी दृष्टि में विश्व मात्र एक प्रक्रिया (परिवर्तनशीलता) है, उस प्रक्रिया से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। वे कहते हैं क्रिया है, किन्तु क्रिया से पृथक् कोई कर्ता नहीं है। इस प्रकार प्रक्रिया से अलग कोई सत्ता नहीं है किन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बौद्ध दर्शन के इन मन्तव्यों का आशय एकान्त क्षणिकवाद या उच्छेदवाद नहीं है। आलोचकों ने उसे उच्छेदवाद समझकर जो आलोचना प्रस्तुत की है, चाहे वह उच्छेदवाद के संदर्भ में संगत हो किन्तु बौद्ध दर्शन के सम्बन्ध में नितान्त असंगत है। बुद्ध सत् के परिवर्तनशील पक्ष पर बल देते हैं किन्तु इस आधार पर उन्हें उच्छेदवाद का समर्थक नहीं कहा जा सकता। बुद्ध के इस कथन का कि "क्रिया है, कर्ता नहीं" का आशय यह नहीं है कि वे कर्ता या क्रियाशील तत्त्व का निषेध करते हैं। उनके इस कथन का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि क्रिया से भिन्न कर्ता नहीं है। सत्ता और परिवर्तन में पूर्ण तादात्म्य है। सत्ता से भिन्न परिवर्तन और परिवर्तन से भिन्न सत्ता की स्थिति नहीं है। परिवर्तन और परिवर्तनशील अन्योन्याश्रित हैं, दूसरे शब्दों में वे सापेक्ष हैं, निरपेक्ष नहीं। वस्तुत: बौद्ध दर्शन का सत् सम्बन्धी यह दृष्टिकोण जैन दर्शन से उतना दूर नहीं है जितना माना गया है। बौद्ध दर्शन में सत्ता को अनुच्छेद और अशाश्वत कहा गया है अर्थात् वे न उसे एकान्त अनित्य मानते हैं और न एकान्त नित्य। वह न अनित्य है और न नित्य है जबकि जैन दार्शनिकों ने उसे नित्यानित्य कहा है, किन्तु दोनों परम्पराओं का यह अन्तर निषेधात्मक अथवा स्वीकारात्मक भाषा-शैली का अन्तर है। बुद्ध और महावीर के कथन का मूल उत्स एक-दूसरे से उतना भिन्न नहीं है, जितना कि हम उसे मान लेते हैं। भगवान् बुद्ध का सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में यथार्थ मन्तव्य क्या था, इसकी विस्तृत चर्चा हमने "जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन" भाग-१ (पृ० १९२-१९४) में की है, इच्छुक पाठक उसे वहाँ देख सकते हैं। सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रस्तुत विवेचना का मूल उद्देश्य मात्र इतना है कि सत् को अव्यय है। इसी प्रकार सत् के सम्बन्ध में एकान्त अभेदवाद और एकान्त भेदवाद भी उन्हें मान्य नहीं रहे हैं।

जैन दार्शनिकों के अनुसार सत्ता सामान्य-विशेषात्मक या भेदाभेदात्मक है। वह एक भी है और अनेक भी। वे भेद में अभेद और अभेद में भेद को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों वे अनेकता में एकता का और एकता में अनेकता का दर्शन करता है। मानवता की अपेक्षा मनुष्यजाति एक है, किन्तु देश-भेद, वर्णभेद, वर्ग-भेद या व्यक्ति-भेद की अपेक्षा वह अनेक है। जैन दार्शनिकों के अनुसार एकता में अनेकता और अनेकता में एकता अनुस्यूत है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सत् के सम्बन्ध में एकान्त परिवर्तनशीलता का या भेदवादी दृष्टिकोण और एकान्त अपरिवर्तनशीलता का या अभेदवादी (अद्वैतवादी) दृष्टिकोण इन दोनों में से किसी एक को अपनाने पर न तो व्यवहार जगत् की व्याख्या सम्भव है न धर्म और नैतिकता का कोई स्थान है। यही कारण था कि आचारमार्गीय परम्परा के प्रतिनिधि भगवान् महावीर एवं भगवान् बुद्ध ने उनका परित्याग आवश्यक समझा। महावीर की विशेषता यह रही कि उन्होंने न केवल एकान्त शाश्वतवाद का और एकान्त उच्छेदवाद का परित्याग किया अपितु अपनी अनेकान्तवादी और समन्वयवादी परम्परा के अनुसार उन दोनों विचारधाराओं में सामंजस्य स्थापित किया। परम्परागत दृष्टि से यह माना जाता है कि भगवान् महावीर ने केवल "उपन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा" इस त्रिपदी का उपदेश दिया था। समस्त जैन दार्शनिक वाङ्मय का विकास इसी त्रिपदी के आधार पर हुआ है। परमार्थ या सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में महावीर का उपर्युक्त कथन ही जैन दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व है।

इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति, विनाश और ध्रौव्य ये तीनों ही सत् के लक्षण हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में उमास्वाति ने सत् को परिभाषित करते हुए कहा है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है (तत्त्वार्थ, ५/२९) उत्पाद और व्यय सत् के परिवर्तनशील पक्ष को बताते हैं तो ध्रौव्य उसके अविनाशी पक्ष को। सत् का ध्रौव्य गुण उसके उत्पत्ति एवं विनाश का आधार है, उनके मध्य योजक कड़ी है। यह सत्य है कि विनाश के लिए उत्पत्ति और उत्पत्ति और विनाश आवश्यक है किन्तु उत्पत्ति और विनाश दोनों के लिए किसी ऐसे आधारभूत तत्त्व की आवश्यकता होती है जिसमें उत्पत्ति के लिए विनाश की ये प्रक्रियायें घटित होती हों। यदि हम ध्रौव्य पक्ष को अस्वीकार करेंगे तो उत्पत्ति और विनाश परस्पर असम्बन्धित हो जायेंगे। और सत्ता अनेक एवं असम्बन्धित क्षणजीवी तत्त्वों में विभक्त हो जायेगी इन परस्पर असम्बन्धित क्षणिक सत्ताओं की अवधारणा से व्यक्तित्व की एकात्मकता का ही विच्छेद हो जायेगा, जिसके अभाव में नैतिक उत्तरदायित्व और कर्मफल-व्यवस्था ही अर्थविहीन हो जायेगी। इसी प्रकार एकान्त ध्रौव्यता को स्वीकार करने पर भी इस जगत् में चल रहे उत्पत्ति और विनाश के क्रम को समझाया नहीं जा सकेगा। जैन दर्शन में सत् के अपरिवर्तनशील पक्ष को द्रव्य और गुण तथा परिवर्तनशील पक्ष को पर्याय कहा जाता है।

१. आचारांग, १/१/१/१
२. (अ) ऋषिभाषित, ३१/९, (ब) भगवती, ९/३३/२३३
३. भगवती, २/१०/१२४-१३०
४. एगे आया- स्थानांग, १/१
५. उत्तराध्ययन, ३६/४८-२११
६. आप्त-मीमांसा- समन्तभद्र, ४०-४१
७. युक्त्यानुशासन, १५-१६
८. अन्ययोगव्यवच्छेदिका, स्याद्वादमंजरी नामक टीका, सहित, कारिका १८.

जैन दर्शन में द्रव्य, गुण एवं पर्याय की अवधारणा

द्रव्य की परिभाषा

जैन परम्परा में सत् और द्रव्य को पर्यायवाची माना गया है। मात्र यही नहीं, उसमें सत् के स्थान पर 'द्रव्य' ही प्रमुख रहा है। आगमों में सत् के स्थान पर 'अस्तिकाय' और 'द्रव्य' इन दो शब्दों का ही प्रयोग देखा गया है। जो अस्तिकाय हैं, वे द्रव्य ही है। सर्वप्रथम द्रव्य की परिभाषा उत्तराध्ययन सूत्र में है। उसमें 'गुणानां आसवो दव्वो' (२८/६) कहकर गुणों के आश्रय स्थल को द्रव्य कहा गया हैं इस परिभाषा में द्रव्य का सम्बन्ध गुणों से माना गया है, किन्तु इसके पूर्व गाथा में यह भी कहा गया है कि द्रव्य, गुण और पर्याय सभी को जाननेवाला ज्ञान है (उत्तराध्ययनसूत्र (२८/५) उस में यह भी माना गया है कि गुण द्रव्य के आश्रित रहते हैं और पर्याय गुण और द्रव्य दोनों के आश्रित रहती है। इस परिभाषा का तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम यह पाते हैं कि इसमें द्रव्य, गुण और पर्याय में आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध माना गया है। यह परिभाषा भेदवादी न्याय और वैशेषिक दर्शन के निकट है। द्रव्य की दूसरी परिभाषा 'गुणानां समूहो दव्वो' के रूप में भी की गयी है। इस परिभाषा का समर्थन तत्त्वार्थसूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका (५/२/पृ०२६७/४) में आचार्य पूज्यपाद ने किया है। इसमें द्रव्य को 'गुणों का समुदाय' कहा गया है, जहाँ प्रथम परिभाषा द्रव्य और गुण में आश्रय-आश्रयी सम्बन्ध के द्वारा भेद का संकेत करती है, वहाँ यह दूसरी परिभाषा गुण और द्रव्य में अभेद स्थापित करती है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि जहाँ प्रथम परिभाषा वैशेषिक सूत्रकार महर्षि कणाद के अधिक निकट है, वहाँ यह दूसरी परिभाषा बौद्ध परम्परा के द्रव्य-लक्षण के अधिक समीप प्रतीत होती है। क्योंकि दूसरी परिभाषा के अनुसार गुणों से पृथक् द्रव्य का कोई अस्तित्व नहीं माना गया। इस द्वितीय परिभाषा में गुणों के समुदाय या स्कन्ध को ही द्रव्य कहा गया है। यह परिभाषा गुणों से पृथक् द्रव्य की सत्ता न मानकर गुणों के समुदाय को ही द्रव्य मान लेती है। इस प्रकार यद्यपि ये दोनों ही परिभाषायें जैन चिन्तन धारा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org